THE TIMES OF INDIA

Date:21-03-24

Good Cop? No, Bad

'Encounter specialist' is no hero. He represents extreme system failure to provide rule of law

TOI Editorials

Pradeep Sharma, a former Mumbai cop who was valorised in popular culture as an 'encounter specialist', was on Tuesday sentenced to life imprisonment by Bombay HC for a fake encounter. Along with him, the court upheld a life sentence on 12 other cops involved in the same case. It's reportedly the first such conviction in Maharashtra.

Shortcut to justice | Chequered careers of Sharma and his contemporaries who were encounter specialists have hogged attention. But the phenomenon is not unique to Mumbai. Across India, policemen have been informally allowed to take shortcuts to deliver justice. This reflects systemic failure, not a solution. Flourishing careers of Mumbai 'encounter cops' have underlined that failure.

Criminals in uniform? | Many of the encounter cops have had to face disciplinary action for unsettling links with the underworld and holding assets disproportionate to their income. Sharma's fake encounter took place 18 years ago. A SIT that investigated it alleged that it was carried out at the behest of a business rival.

Rule of law matters | Central to the idea of rule of law is that power is never exercised arbitrarily. Greater the power given to a representative of the State, greater is the need for accountability. Distortions such as 'encounter cops' and 'bulldozer justice' subvert the idea. Arbitrariness replaces the idea of a justice system with a set of checks and balances. Without limits on exercise of power, we only end up with injustice.

Failure's not an excuse | Summary justice has its supporters. Their chief argument is that the normal route failed to deliver. But the antidote to failure can't be a system that gives policemen a special dispensation to bypass accountability. That's always led to abuse of power, as, once again, the careers of encounter cops show.

Justice and democracy | They are intertwined concepts. A democracy is as good as the quality of its justice delivery. Arbitrariness is antithetical to democracy. No democracy can afford to travel down the path of summary justice.

It's no one's case that ensuring an effective justice delivery system is easy. India has its share of problems. But a strong state will find solutions that uphold the rule of law, rather than opt for methods that dispense with it.

Let's not forget that the case against Sharma was built through police investigations. It shows that no one is above the law. That's the real takeaway.

दैनिक भास्कर

Date:21-03-24

सोशल मीडिआ उपयोग की आयु-सीमा तय करनी होगी

चेतन भगत, (अंगेजी के उपन्यासकार)

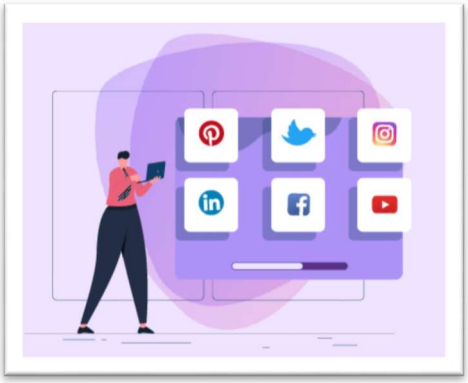

हाल ही में फ़्लोरिडा की विधायिका ने एक कानून पारित किया है, जिसके तहत सोशल मेडिया यूजर्स की आयु कम से कम 16 वर्ष होनी आवश्यक है। और उनकी आयु का तीसरे पक्ष द्वारा सत्यापन किया जाएगा। 14-15 वर्ष के बच्चों के लिए माता-पिता की सहमति जरूरी होगी। 13 और उससे कम आयु वालों को अपने सोशल मीडिया अकाउंट्स बंद करने होंगे। यह कानून फिलहाल गवर्नर की मेज पर है। लेकिन लागू होने के बाद इसके दूरगामी प्रभाव होने की उम्मीद है।

भारत में भी सरकार और अदालतों ने सोशल मीडिया का उपयोग करने के लिए उम्र सीमा तय करने के विचार पर बहस की है। लोग आम तौर पर इस बात से चिंतित रहते हैं कि सरकार लोगों के जीवन में बहुत हस्तक्षेप कर रही है। कोई यह तर्क दे सकता है कि यह पैरेंट्स पर निर्भर है कि वे तय करें उनके बच्चों के लिए क्या अच्छा है। अगर उन्हें इंस्टाग्राम रील्स या एक्स के फीड से दिक्कत नहीं है, तो हम हस्तक्षेप करने वाले कौन होते हैं? क्या सोशल मीडिया के अच्छे पहलू नहीं है? उदाहरण के लिए दुनिया में क्या हो रहा है, यह बच्चों को इस बारे में जानने में मदद कर सकता है या यह उन्हें दोस्तों से जुड़ने में सहायक है या इससे उन्हें पढ़ाई में मदद मिल सकती है।

ठीक है- सैद्धांतिक रूप से इनमें से कई अच्छी चीजें सोशल मीडिया से मिल सकती हैं, लेकिन हकीकत ये है कि यह बच्चों के लिए बेहद हानिकारक भी है। सबसे अधिक समस्याएं मानसिक स्वास्थ्य से संबंधित हैं डिप्रेशन, एंग्जाइटी और एडिक्शन | किशोरावस्था के शुरुआती दिन अपने दोस्तों से तुलना, उनकी राय के प्रभाव और अपनी पहचान को लेकर असुरक्षा का समय है (हम सभी ऐसे थे)। इसमें जोड़ दें सोशल मीडिया की अराजक दुनिया, जिसमें आपको तराशी हुई देहें समृद्ध जीवन शैली, सफलता की कहानियां, धुवीकृत विचार सनसनीखेज दृश्य दिखाए जाते हैं। ये तमाम तरह के कटेंट आपके अटेशन को होल्ड करने के लिए तैयार किए गए हैं। ऐसे में आपको क्या लगता है क्या होगा? क्या आपको इस

बात को समझने के लिए किसी रिसर्च या स्टडी की आवश्यकता है कि बारह या चौदह साल के बच्चे के लिए यह सब खतरनाक है?

मानसिक स्वास्थ्य के अलावा नींद, आहार और पोषण से संबंधित समस्याएं भी हैं। सोशल मीडिया से किशोरों की शारीरिक गतिविधियां कम हो जाती है। याद करें पहले बच्चे हर शाम पार्क में खेलते थे, अब वे उतना नहीं खेलते हैं वे पैरेंट्स के साथ अब ज्यादा बहस करने लगे हैं। यदि आप हर दिन सोशल मीडिया पर घंटों बिता रहे हैं तो ध्यान केंद्रित करने की क्षमता और रचनात्मकता कम हो जाती हैं। इसके बावजूद, आज लाखों बच्चे और टीनएजर्स सोशल मीडिया पर सक्रिय हैं। मैं नहीं जानता पैरेंट्स अपने बच्चों पर कितना ध्यान रख रहे हैं। लेकिन रेस्तरां में फोन और टैबलेट देखने वाले बच्चों की भारी तादाद पर नजर डालें, तो ज्यादा उम्मीद नहीं जगती सोशल मीडिया कंपनियां उम्र की जांच बेमन से करती हैं, जिसमें खुद यूजर ही अपनी उम्र को प्रमाणित करता है। 12 साल के बच्चे को यह कहने से कोई नहीं रोकता कि वह 18 साल का है, और तुरंत उसका अकाउंट बना दिया जाता है। उसके बाद हमें नहीं पता वो बच्चा क्या कर रहा होता है और हम सभी जानते हैं कि जब पैरेंट्स टीनएजर्स पर रोक-टोक लगाते हैं तो क्या होता है। यही कारण है कि सोशल मीडिया एज- रेगुलेशन लिए सरकारी हस्तक्षेप आवश्यक हो गया है। सब जानते हैं कि सोशल मीडिया न केवल बच्चों, बल्कि बड़ों के लिए भी एडिक्टिव है। कोई कह सकता है कि वयस्कों को अपना जीवन अपनी इच्छानुसार जीने का अधिकार है। लेकिन सोशल मीडिया की सभी बुराइयों को जानने के बावजूद अगर हम अपने बच्चों को उसका इस्तेमाल करने देते हैं तो क्या हम युवा पीढ़ी के प्रति गैर जिम्मेदार नहीं साबित होगे? आदर्श तरीका तो यही होगा कि पैरेंट्स घर पर ही इसका ध्यान रखें, लेकिन रेगुलेटरी मदद के बिना यह संभव नहीं है।

एज-वेरिफिकेशन की उचित प्रणाली के अभाव में बच्चे हमेशा अपनी उम्र के बारे में झूठ बोलकर अकाउंट खोलने के तरीके ढूंढते रहेंगे। बच्चों के मस्तिष्क को सोशल मीडिया की दुनिया में प्रवेश करने से पहले और अधिक विकसित होने दें। उनके विकास के लिए ये प्रोटीन और अल-टोन वर्ष महत्वपूर्ण हैं, साथ ही यह वह समय भी है जब स्कूल में पढ़ाई पहले से और कठिन होती चली जाती है। ऐसे में उन्हें सोशल मीडिया से दूर रखना उन्हीं के हित में होगा।

दैनिक जागरण

Date:21-03-24

चुनावी रेवड़ियां

संपादकीय

यह अच्छा है कि सुप्रीम कोर्ट राजनीतिक दलों की ओर से मुफ्त सुविधाएं और सामग्री देने के वादों पर कोई रोक-टोक लगाने की मांग वाली याचिका पर सुनवाई करने के लिए सहमत हो गया, लेकिन इसकी अनदेखी नहीं की जा सकती कि वह इसके पहले भी इस विषय का संज्ञान ले चुका है, लेकिन उसका कोई सकारात्मक परिणाम नहीं निकला। उसने चुनावी

रेवड़ियों के मामले में निर्वाचन आयोग को कदम उठाने को कहा था, लेकिन उसके पास ऐसे कोई अधिकार ही नहीं कि वह अनाप-शनाप वादे करने वाले दलों पर कोई लगाम लगा सके। यही कारण है कि उनकी सेहत पर कोई असर नहीं पड़ा। वे मतदाताओं को लुभाने के लिए ऐसे वादे करने में लगे हुए हैं, जिन्हें न तो पूरा करना संभव होता है और न ही आर्थिक हालात उन्हें ऐसा करने की अनुमति देते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जब कभी रेवड़ियों का सहारा लेने वाले राजनीतिक दल सत्ता में आ जाते हैं तो वे अपने चुनावी वादों को या तो आधे- अधूरे ढंग से पूरा करते हैं या फिर केंद्र सरकार से उनके लिए धन की मांग करने लगते हैं। इससे भी बुरी बात यह होती है कि वे कर्ज लेकर अर्थव्यवस्था का बेड़ा गर्क करने का काम करते हैं। वे नीति आयोग, रिजर्व बैंक आदि की ऐसी चेतावनियों की अनदेखी भी करते हैं कि चुनावी रेवड़ियां सरकारी खजाने पर अनावश्यक बोझ बढ़ा रही हैं। यह किसी से छिपा नहीं कि ढेरों लोक-लुभावन वादे कर सत्ता में आई हिमाचल, कर्नाटक और कुछ और राज्यों की सरकारें किस तरह अपनी अर्थव्यवस्था को संभालने के लिए जोड़- तोड़ कर रही हैं।

चुनावी रेवड़ियों को लेकर सुप्रीम कोर्ट एक ऐसे समय सुनवाई करने जा रहा है, जब लोकसभा चुनावों की घोषणा हो चुकी है और कई दल लोक-लुभावन वादे करने में जुट गए हैं। स्पष्ट है कि उसे शीघ्र ही ऐसे कोई आदेश निर्देश देने होंगे, जिनसे राजनीतिक दल बेहिसाब चुनावी वादे करने से बाज आएं। लोक-लुभावन चुनावी वादों के मामले में मुश्किल यह है कि जो वादे किसी के लिए जन कल्याणकारी हैं, वही किसी अन्य के लिए मुफ्त की रेवड़ियां । जब तक जनकल्याणकारी योजनाओं और मुफ्त की रेवड़ियों को सही तरह परिभाषित किया नहीं जाएगा, तब तक उन पर लगाम लगाना संभव नहीं। इसमें अंतर किया ही जाना चाहिए कि कौन सी योजनाएं लोगों को सचमुच आत्मनिर्भर बनाती हैं और कौन सामाजिक उत्थान के नाम पर उन्हें बैसाखी देने का काम करती हैं या फिर मुफ्तखोरी की संस्कृति को बल देती हैं। यदि ऐसा नहीं किया गया तो देश की अर्थव्यवस्था को मजबूत बनाए रखना कठिन होगा और इसके दुष्परिणाम लोगों को ही भोगने होंगे। राजनीतिक दलों को आमदनी अठन्नी और खर्चा रुपैया वाले तौर-तरीके अपनाने से रोका ही जाना चाहिए। यह सही समय है कि आम लोग भी यह समझें कि वे रेवड़ियों के फेर में आकर अपना और साथ ही देश का अहित ही करते हैं।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date:21-03-24

स्थानीय नवाचार पर जोर देने का वक्त

संपादकीय

विकसित भारत के लक्ष्य ने भारत के सामने एक चुनौतीपूर्ण एजेंडा पेश किया है। इसका एक अहम पहलू है प्रति व्यक्ति सकल राष्ट्रीय आय को मौजूदा 3,348 डॉलर से बढ़ाकर 14,000 डॉलर पहुंचाना तथा देश को निम्न मध्य आय वाले देश से उच्च आय वाले देशों की श्रेणी में ले जाना।

बहरहाल अगर भारत ने 2047 तक यह लक्ष्य हासिल नहीं किया तो उसके समृद्ध होने से पहले ही उम्रदराज होने का भी खतरा है। उस समय तक देश की 14 फीसदी आबादी 65 वर्ष या उससे अधिक आयु की हो जाएगी। भारत की वार्षिक वृद्धि को 10 से 12 फीसदी से अधिक करना होगा जबकि फिलहाल यह छह या सात फीसदी से अधिक नहीं है। ऐसा करके ही हम मध्य आय के उस जाल से बच सकेंगे जिसमें मलेशिया, थाईलैंड और इंडोनेशिया जैसे देश उलझ गए थे। दक्षिण कोरिया अपनी प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय को 1983 के 2,130 डॉलर से बढ़ाकर महज 25 वर्षों में 23,860 डॉलर करने में कामयाब रहा। ऐसा उसने इलेक्ट्रॉनिक्स, वाहन और रक्षा क्षेत्र में अहम पेशकश की बदौलत किया।

तकनीक आधारित ज्ञान वाली अर्थव्यवस्था में किसी उत्पाद की बौद्धिक संपदा उसके मूल्य में आधा योगदान करती है और केवल विनिर्माण के दम पर मूल्य निर्माण की बराबरी कर पाना चुनौतीपूर्ण होता है। चीन ने इस हकीकत को पहचान कर अपनी राह बदली और अब उसका लक्ष्य 2050 तक नवाचार में अगुआ बनने का है। भारत को भी विकसित भारत का लक्ष्य हासिल करने के लिए 'मेक इन इंडिया' से आगे बढ़कर 'मेक प्रॉडक्ट इन इंडिया' की दिशा में काम करना होगा। नई रणनीति कोविड-19 के दौर से तथा रक्षा क्षेत्र से अंतर्दृष्टि हासिल कर सकती है।

पहली बात, शोध एवं विकास कार्य को सरकारी क्षेत्र से परे ले जाने की आवश्यकता है। वैसे ही जैसा अंतरिक्ष और ड्रोन के क्षेत्र में किया गया। हमें परमाणु ऊर्जा और गहरे समुद्र के खनन को इस सूची में शामिल करना होगा। इसके लिए सरकार को बढ़चढ़कर यह प्रयास करना होगा कि पुराने सरकारी संस्थान निजी क्षेत्र के प्रवेश को बाधित न करें। रक्षा क्षेत्र में निजी क्षेत्र को 2001 में इजाजत दे दी गई थी लेकिन महत्त्वपूर्ण भागीदारी 2018 के बाद सामने आई जब मेक-2 और आईडेक्स योजनाओं ने आकार लिया तथा स्वदेशी हल बहुत कम लागत और समय में तैयार होने लगे।

उद्योग जगत से इनस्पेस जैसे नियामक के निर्माण ने भी सहायता की। प्रतिस्पर्धा को सार्थक साझेदारी में बदलने से भी कामयाबी हासिल हुई। उदाहरण के लिए कोविड महामारी के दौरान राष्ट्रीय विषाणु विज्ञान संस्थान ने सार्स-कोव-2 वायरस को अलग-थलग किया और उसे भारत बायोटेक के साथ साझा किया। इससे कोवैक्सीन का निर्माण हो सका जिसे कुछ ही महीनों में वाणिज्यिक रूप से उपलब्ध कराया जा सका। एक अन्य विकल्प है निजी-सरकारी भागीदारी जिसने अधोसंरचना क्षेत्र में बड़ी कामयाबी दिलाई है। शोध एवं विकास को उपयुक्त ढंग से संशोधित किया जा सकता है।

दूसरा, 'नवाचार की सुगमता' को नया मंत्र बनाना चाहिए। इसके लिए नियामकीय ढांचे में बदलाव की आवश्यकता होगी। यह स्वीकार करना कि नवाचारी उत्पाद मौजूदा मानकों और नियमों को चुनौती दे सकते हैं। नियामकों को नवाचार को प्राथमिकता देनी चाहिए। इसे भी महामारी के दौरान बल मिला जब नियमों के तहत आपात इस्तेमाल की मंजूरी न होने के बाद भी सरकारों ने टीकों के सीमित इस्तेमाल की इजाजत दी। जेनेटिक बदलाव को लेकर समीक्षा समितियों द्वारा नियामकीय मंजूरी महीनों या सालों के बजाय दिनों में दी गई। आईडेक्स में भी ऐसा ही देखने को मिला। कठोर अनुपालन और विशेष मांगों के बजाय सशस्त्र बलों ने व्यापक जरूरतों के आधार पर विशिष्टताओं को अपनाया और डेवलपरों को संभालने के लिए एक परियोजना सुविधा टीम की स्थापना की।

तीसरा, सरकारी खरीद में नवाचार को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। ओईसीडी का 2017 का सर्वेक्षण बताता है कि 80 फीसदी देशों ने नवाचार आधारित खरीद को नीतिगत या विधिक उपायों की मदद से बढ़ावा दिया। सरकारी खरीद नवाचार करने वालों को एक तरह की वैधता प्रदान करती है, ग्राहक उन पर भरोसा करने लगते हैं और राजस्व आना सुनिश्चित होता है। इससे जोखिम कम होता है। कोविड-19 और आईडेक्स के मामलों में हमने देखा कि सुनिश्चित सरकारी खरीद

नवाचार की कामयाबी में अहम है। स्वदेशी तौर पर विकसित वस्तुओं की खरीद के लिए स्पष्ट ढांचा तैयार किए जाने की आवश्यकता है। इसमें स्वदेशी रूप से विकसित उत्पाद को परिभाषित करना तथा उचित कीमत तय करना जरूरी है।

चौथा, उत्पाद विकास में सरकारी फंडिंग की मदद से जोखिम को कम करना। अंतरिम बजट में 50 वर्ष की अवधि के साथ एक लाख करोड़ रुपये की घोषणा उल्लेखनीय है लेकिन परिचालन ब्योरों पर विचार करना होगा। अमेरिका में डीएआरपीए और इजरायल में जोज्मा जैसे सफल मॉडल से उल्लेखनीय अंतर्दृष्टि हासिल की जा सकती है। भारत का जीवंत स्टार्टअप परिदृश्य और फंड्स के फंड तथा आईडेक्स मॉडल की कामयाबी का लाभ लिया जा सकता है। आईडेक्स मॉडल का विस्तार रक्षा से इतर अन्य क्षेत्रों में किया जा सकता है और शोध एवं विकास आधारित फंड्स के फंड पर काम किया जा सकता है। इससे निजी निवेश जुटाने में मदद मिलेगी और नवाचार से जुड़ा जोखिम कम होगा।

पांचवां, भारत की जनांकीय बढ़त का लाभ उठाकर उभरती तकनीक के सहारे एक उल्लेखनीय टैलेंट पूल बनाने की जरूरत। विश्वविद्यालयों को भी उद्यमिता और नवाचार को बढ़ावा देने वाले केंद्रों में बदलने की आवश्यकता है। इसके लिए स्टैनफर्ड विश्वविद्यालय से सबक लिया जा सकता है।

छठा, गहन वैश्विक प्रतिस्पर्धा के बीच स्वदेशी ब्रांड का विकास अहम है। इसके आधार पर ही आयातित वस्तुओं को चुनौती दी जा सकती है। स्थानीय वस्तुओं को बढ़ावा देने के लिए नारेबाजी से आगे बढ़कर काम करना होगा और उसे सरकारी नीति बनाना होगा। इसके अलावा सरकार को नीतिगत रूप से स्वदेशी रूप से विकसित उत्पादों को द्विपक्षीय और बहुपक्षीय प्रणाली के तहत निर्यात करना होगा।

सातवां, उत्पाद विकास के मानक तैयार करने और उसे अपनाने पर जोर देने की जरूरत है। भूराजनीति मानक निर्माण में अहम भूमिका निभाती है। कोवैक्सीन को मंजूरी में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने जो समय लिया वह इसका उदाहरण है। प्रभाव पर जोर देने के लिए सरकार को उद्योग जगत के साथ मिलकर काम करना चाहिए ताकि वैश्विक संस्थाओं में निर्णय लेने वाली भूमिका सुनिश्चित हो सके। प्राथमिक कदम के रूप में राष्ट्रीय मानक निर्माण संस्थानों को उद्योग जगत के नेतृत्व वाला बनाना आवश्यक है।

आखिर में संरक्षणवाद से बचाव जरूरी है ताकि विश्वस्तरीय उत्पाद विकास व्यवस्था कायम की जा सके। भारतीय नवाचार दुनिया में सर्वश्रेष्ठ का मुकाबला कर सकता है और भारतीय उपभोक्ताओं को स्वदेशी विकास के नाम पर कमतर उत्पाद नहीं मिलने चाहिए।

एक उत्पाद आधारित देश के रूप में भारत उच्च आय वाले रोजगार तैयार करेगा जो लोगों का जीवन बेहतर बनाएंगे। नवाचार से सामाजिक और पर्यावरण संबंधी जरूरतें पूरी करने में भी मदद मिलेगी। भारत में उत्पाद तैयार करना एक रणनीतिक जरूरत है और चुनाव के बाद सरकार को इस पर तत्काल ध्यान देना चाहिए।

कैसी खुशहाली

संपादकीय

विश्व खुशहाली रिपोर्ट में भारत की रैंकिंग का 126वें स्थान पर कायम रहना हमारे लिए विचारणीय और प्रेरक होना चाहिए। विदेशी विद्वान अपने पैमाने पर खुशहाली की गणना करते हैं और जिसमें भारत जैसे विशाल देश की चुनौतियां बेशक भारी पड़ती होंगी। ऐसी स्थिति से निराश तो कतई नहीं होना चाहिए, बल्कि प्रेरणा के सूत्र जरूर तलाशने चाहिए। खैर, अर्थशास्त्री जॉन एफ हेलिवेल, रिचर्ड लेयर्ड, जेफरी सैक्स, जान इमैनुएल डी नेवे, लारा बी अकनिन और शुन वांग द्वारा प्रकाशित विश्व खुशहाली रिपोर्ट में नॉर्डिक देशों ने फिर शीर्ष स्थान हासिल किया है, इसमें किसी को आश्चर्य नहीं है। फिनलैंड को दुनिया का सबसे खुशहाल देश करार दिया गया है, पर गौर कीजिए, वहां आबादी सिर्फ 56 लाख है। मतलब, इस देश की चुनौतियां बहुत कम हैं। धार्मिक समीकरण ऐसा है कि विद्वेष की ज्यादा गुंजाइश नहीं है। सरकारों को किसी समस्या को सुलझाने में ज्यादा समय नहीं लगता है। अत: फिनलैंड की स्थिति अच्छी है, पर उसकी तुलना भारत जैसे देश से कैसे हो सकती है? यह बहस का विषय है।\nसंयुक्त राष्ट्र द्वारा प्रायोजित इस वार्षिक रिपोर्ट में नॉर्डिक देशों ने 10 सबसे खुशहाल देशों में अपना स्थान बनाए रखा है। फिनलैंड के बाद डेनमार्क, आइसलैंड, स्वीडन ने शीर्ष स्थान हासिल किए हैं। इन सभी देशों में समाज काफी सुलझा हुआ है और विविधता वहां ज्यादा समस्याएं पैदा नहीं करती है। देखने की बात है कि खुशहाली की रिपोर्ट विगत एक दशक से भी ज्यादा समय से जारी हो रही है और पहली बार अमेरिका और जर्मनी जैसे विकसित देशों को शीर्ष 20 देशों में स्थान नहीं मिला है। अमेरिका 23वें और जर्मनी 24वें स्थान पर लुढ़क गया है। हालांकि, यह विडंबना ही है कि धार्मिक पाबंदियों वाला कुवैत दुनिया का 13वां सबसे खुशहाल देश है। ऐसी अतार्किक सूची देखकर अफसोस भी होता है और चिंता भी होती है। क्या खुशहाली को धार्मिक और सामाजिक स्वतंत्रता के आधार पर ज्यादा नहीं देखा जाना चाहिए? खुशहाली को केवल आर्थिक समृद्धि और संसाधनों की अधिकता में घटाकर देखना सही नहीं है। \nखुशहाली की रैंकिंग को देखकर कतई भ्रमित नहीं होना चाहिए। पाकिस्तान पिछली बार 108वें स्थान पर था, इस बार 122वें पर आ गया है, पर तब भी भारत से चार पायदान ऊपर है। जिस देश में खूब महंगाई है, जहां धार्मिक आजादी सीमित है, वह देश भी अगर हमसे खुशहाल है, तो ऐसी खुशहाली का अध्ययन होना चाहिए। लगे हाथ यह भी चर्चा होनी चाहिए कि पाकिस्तान ने जिस देश की सत्ता में सांप्रदायिक कट्टरपंथी जमात तालिबान का इस्तकबाल किया था, वह अफगानिस्तान खुशहाली की सूची में सबसे नीचे 143वें स्थान पर है। अफगानिस्तान की ऐसी खुशहाली में पाकिस्तान को अपना चेहरा जरूर देखना चाहिए। एक और विडंबना देखिए, निर्मम युद्ध लड़ रहा इजरायल पांचवां सबसे खुशहाल देश है! पीड़ित फलस्तीन 103वें स्थान पर है, तो रूस 72वें स्थान पर और यूक्रेन 105वें स्थान पर। ये देश युद्ध के बावजूद भारत से ज्यादा खुशहाल हैं। पता नहीं, इस रैंकिंग पर कितना भरोसा किया जाए? जहां तक भारत का सवाल है, खुशहाली के सभी पैमानों पर हमें अपने प्रयास बढ़ाने की जरूरत है। भारतीयों के बीच संतोष के भाव, प्रति व्यक्ति सकल घरेलू उत्पाद, सामाजिक सहयोग, जीवन प्रत्याशा, स्वतंत्रता, उदारता के भाव में विस्तार जारी रहना चाहिए।

Date:21-03-24

साफ आबोहवा के सपने देखते शहर

सोपान जोशी, (विज्ञान और पर्यावरण पत्रकार)

पर्यावरण वह जूं है, जो राजनीति के कान पर कभी रेंग ही नहीं पाती। तीन दशक से यह साफ है कि हमारे शहरों की हवा सांस लेने लायक नहीं है। मगर राजनीति इस समस्या को नजरंदाज करने के नित नए तरीके ढूंढ़ती रही है। इसलिए यह माना जा सकता है कि हालिया रिपोर्टों का भी इस पर शायद ही असर हो। सबसे पहले चर्चा विश्व मौसम विज्ञान संस्थान की रिपोर्ट की, जिसके मुताबिक, पिछले साल मार्च से लेकर इस वर्ष फरवरी तक वैश्विक तापमान 1.5 डिग्री की सीमा से ऊपर बना रहा। रिपोर्ट कहती है कि न केवल बीता वर्ष, बल्कि पूरा दशक धरती का सबसे गरम रहा है। इसी तरह, स्विस संगठन आईक्यू एयर की रिपोर्ट में दावा किया गया है कि भारत दुनिया का तीसरा सबसे प्रदूषित देश है। दस सबसे प्रदूषित शहरों में नौ भारत के हैं, जबकि शीर्ष 100 में से 83 के सामने भारतीय झंडा लगा है।

चूंकि, इस स्विस कंपनी का व्यापार घरेलू हवा को साफ रखने के यंत्र बेचना है, तो हो सकता है कि कुछ लोगों को इसमें भारत की छवि को धूमिल करने का षड्यंत्र दिखे। मगर ऐसा करना आत्मघाती होगा। कंपनी ने सरकारों द्वारा जारी आंकड़ों को संजोया भर है। यह रिपोर्ट-कार्ड हमारा अपना तैयार किया हुआ है, वह तो इसे केवल वैश्विक संदर्भ में हमारे सामने रख रही है।

इससे बचने का एक तरीका हो सकता है कि वायु प्रदूषण को जांचा ही न जाए, या फिर उसके आंकड़े सार्वजनिक न किए जाएं। क्या पता, ऐसा करने से देश की छवि थोड़ी-बहुत बच जाए। मगर उसके लिए हमें अपने लोगों के स्वास्थ्य की बलि चढ़ानी होगी। यह कठिन नहीं है। स्वास्थ्य और चिकित्सा का हमारा तंत्र धन पर आधारित है। धनवान लोग अपने घर में पानी और हवा को स्वच्छ रखने वाले यंत्र लगा सकते हैं। उनका भोजन और रहन-सहन ऐसा होता है, जिसमें कई खतरे कम हो जाते हैं। जब वे बीमार पड़ते हैं, तब चिकित्सा सुविधाएं भी उन्हें मिल जाती हैं। मगर इतना धन हमारी आबादी के एक छोटे-से हिस्से के पास ही है।

बाकी लोगों की चिंताएं रोजगार और दैनिक संघर्ष पर रुक जाती हैं। बरसों से यह सुनने में आ रहा है कि एक बार देश गरीबी के चक्रव्यूह से निकल जाए, औद्योगिक और आर्थिक विकास की सीढ़ी चढ़ ले, तो उसके बाद पर्यावरण भी साफ कर लेंगे। जलवायु बिगड़ने का सबसे बड़ा कारण यही मानसिकता है। हवा-पानी और मिट्टी-जंगल के सवाल राजनीति में गौण होते गए हैं। इनको उन लोगों की चिंता मान लिया जाता है, जो अव्यावहारिक हैं, जो देश के विकास में बाधाएं डाल रहे हैं।

हमारे समय का सबसे बड़ा धर्म विकास बन चुका है। चाहे जो भी राजनीतिक दल हो, उसकी चुनावी राजनीति किसी भी नारे पर चलती हो, विकास पर सर्वसम्मति है। विकास का मतलब भी एक ही है। विकसित वही है, जो दूसरों से अधिक साधनों का उपयोग अथवा उपभोग कर सकता है। इन साधनों का मूल्य अर्थशास्त्री तय करते हैं, उन मूल्यों को रोकड़े के गणित में तब्दील करते हैं। इसका असर सर्वव्यापी हो गया है। हमारे सारे मूल्य अर्थशास्त्र से आने लगे हैं। हर चीज का मूल्य मुद्रा के रूप में बिकाऊ है। जिन लोगों के सभी मूल्य बिकाऊ होते हैं, वे लोग भी बिकाऊ हो जाते हैं। यही है विकास की सच्चाई।

चूंकि यह सच्चाई कड़वी है, इसलिए इसकी चर्चा करना बड़ी असुविधा है। अगर किसी मजबूरी में इसकी बात करनी ही पड़े, तो उसे आदर्शवादी जामा पहनाया जाता है। नैतिकता से अटे संदेश बांटे जाते हैं। एक बेहतर भविष्य का सपना बेचा जाता है। इस सपने में विकास के विकराल रूप को आकर्षक विशेषणों के साबुन से साफ किया जाता है। सतत विकास,

हरित विकास, टिकाऊ विकास! इन विशेषणों का उपयोग विकास के बिकाऊ मूल्यों को छिपाने के लिए होता है। किंतु नैतिकता की फटी चादर विकास की हर अवधारणा का बाजारूपन हमेशा छिपा नहीं सकती। कोई-न-कोई रिपोर्ट उसके झूठ को उजागर कर ही देती है।

औद्योगिक क्रांति और आर्थिक विकास के इतिहास का सच नकारे बिना राजनीति की दाल गल नहीं सकती। विकास की असलियत डरावनी है। वनों को काटकर खनिज निकालना, पवित्र नदियों पर बांध बनाकर उनका पानी निचोड़ना, उनमें अपना अपशिष्ट पदार्थ डालना, खेतिहर जमीन को बंजर बनाना, वन्य प्राणियों का जड़-मूल मिटा देना... प्रकृति के साधनों को डकारकर कचरा पैदा करना विकास का स्वभाव शुरू से रहा है। जो देश इस विध्वंसक अमीरी को साध लेते हैं, वे खुद को साफ कर लेते हैं।

पिछले दो सौ सालों में औद्योगिक क्रांति के औजारों ने इसे इतना बढ़ा दिया है कि पर्यावरण का विनाश चारों ओर व्याप्त हो चुका है। उसका जहर हर सांस के साथ हमारे भीतर जाता है, भोजन के हर निवाले में उसका विष है। इसे ठीक करने में राजनीति को कोई लाभ नहीं दिखता। वह सिर्फ अगले चुनाव तक देखती है। सत्य और दूरदृष्टि की उसे कोई जरूरत नहीं लगती।

इसी कारण राजनीति में मोहनदास करमचंद गांधी को नैतिकता का प्रतीक बनाकर किनारे रखा गया है। गांधी उन विरल लोगों में थे, जिन्होंने यह खतरा बहुत पहले देख लिया था। औद्योगिक विकास, साम्राज्यवाद और गुलामी का संबंध उन्होंने चालीस की उम्र तक समझ लिया था। उन्होंने 1928 में कहा था, ईश्वर न करे कि भारत कभी पश्चिमी देशों के ढंग का औद्योगिक देश बने। एक अकेले इतने छोटे-से द्वीप (इंग्लैंड) का आर्थिक साम्राज्यवाद ही आज संसार को गुलाम बनाए हुए है। तब 30 करोड़ की आबादी वाला हमारा समूचा राष्ट्र भी अगर इसी प्रकार के आर्थिक शोषण में जुट गया, तो वह सारे संसार पर एक टिड्डी दल की भांति छा जाएगा और उसे तबाह कर देगा।

तीस करोड़ का देश आज 140 करोड़ का हो चुका है, जिसमें पाकिस्तान और बांग्लादेश की आबादी अलग है। ऐसे में, कोई अचरज नहीं कि आज दुनिया के 100 सबसे प्रदूषित हवा वाले नगरों में 83 भारत में हैं। यह भारत की छवि बिगाड़ने का षड्यंत्र नहीं है। यह भारत को बिगाड़ने का षड्यंत्र है। इसका नाम है विकास। जब तक इस विकराल राक्षस की सच्चाई नहीं स्वीकार की जाएगी, तब तक हम अपने आधार का विनाश करते रहेंगे। विकास ही आज का सबसे बड़ा अंधविश्वास है!